INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL
ISSN NO : 2230-7850
IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF)
VOLUME - 16 | ISSUE - 3 | APRIL – 2026

दलित साहित्य में शोषितों की पुकार का अध्ययन

रामानुज पटेल
शोधार्थी हिन्दी
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

डॉ. निर्मला साहू
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
श्री दयाराम शिक्षा महाविद्यालय सेमरिया, जिला रीवा (म.प्र.)

सारांश –

हिन्दी साहित्य के आधुनिक विकासक्रम में दलित साहित्य एक ऐसी सशक्त एवं परिवर्तनकारी साहित्यिक धारा के रूप में स्थापित हुआ है, जिसने समाज के हाशिए पर स्थित वर्गों विशेषकर शोषित, वंचित एवं उत्पीड़ित समुदायों की पीड़ा, संघर्ष एवं अस्मिता को केंद्रीय स्थान प्रदान किया है। इस साहित्य का मूल स्वर "शोषितों की पुकार" है, जो सदियों से चली आ रही सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक असमानताओं के विरुद्ध एक मुखर प्रतिरोध के रूप में अभिव्यक्त होता है। भारतीय सामाजिक संरचना में जाति–आधारित पदानुक्रम, अस्पृश्यता तथा श्रम के असमान वितरण ने दलित समाज को निरंतर शोषण और अपमान की स्थितियों में बनाए रखा। इस ऐतिहासिक अन्याय के परिणामस्वरूप दलित समुदाय की जीवन–स्थितियाँ अत्यंत दयनीय रहीं, जिनकी अभिव्यक्ति मुख्यधारा के साहित्य में लंबे समय तक पर्याप्त रूप से नहीं हो सकी। इसी मौन को तोड़ते हुए दलित साहित्य ने शोषित वर्गों की अनुभूत पीड़ा को स्वर प्रदान किया और साहित्य को यथार्थ के निकट लाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

मुख्य शब्द – दलित साहित्य, संघर्ष, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक असमानता।

प्रस्तावना –

दलित साहित्य में शोषितों की पुकार केवल करुणा का स्वर नहीं है, बल्कि यह एक तीव्र सामाजिक चेतना और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। यह पुकार उस व्यवस्था के विरुद्ध है, जिसने मनुष्य–मनुष्य के बीच ऊँच–नीच का भेद स्थापित कर मानवीय गरिमा को आघात पहुँचाया है। दलित साहित्य इस पीड़ा को केवल व्यक्त नहीं करता, बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक वैचारिक शक्ति के रूप में रूपांतरित करता है।

इस साहित्यिक धारा की विशेषता यह है कि इसमें अनुभवजन्य यथार्थ को प्रमुखता दी गई है। दलित लेखक स्वयं अपने जीवनानुभवों के माध्यम से शोषण, भेदभाव, अपमान एवं संघर्ष की स्थितियों को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं। यह साहित्य उन आवाजों का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्हें सदियों तक सामाजिक व्यवस्था ने अनसुना कर दिया था। अतः "शोषितों की पुकार" वास्तव में एक सामूहिक चेतना का स्वर है, जो समानता, न्याय एवं स्वतंत्रता की मांग करता है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों ने इस पुकार को वैचारिक आधार प्रदान किया, जिसमें सामाजिक समानता, मानवाधिकार एवं न्यायपूर्ण समाज की स्थापना को केंद्रीय महत्व दिया गया। उनके चिंतन ने दलित साहित्य को केवल अभिव्यक्ति का माध्यम न बनाकर एक सामाजिक आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया, जिसमें शोषित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर प्रतिरोध की स्थिति में खड़ा दिखाई देता है।

दलित कविता का लोकतांत्रिक मूल्य मूलतः शोषित–वंचित वर्ग की चेतना, अस्मिता और प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति है। यह केवल करुणा या पीड़ा का आख्यान नहीं, बल्कि अन्यायपूर्ण सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध वैचारिक और क्रांतिकारी हस्तक्षेप भी है। दलित साहित्य की परिभाषाओं में यह स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि जड़, अमानवीय और शोषणकारी परंपराओं को उखाड़ फेंकना ही इसका मूल उद्देश्य है। इसी कारण दलित कविता में लोकतांत्रिक मूल्यों समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय का प्रबल स्वर दिखाई देता है। यह कविता सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करते हुए परिवर्तन की आकांक्षा को भी स्वर देती है, जिससे यह 'लोकतांत्रिक कविता' के रूप में प्रतिष्ठित होती है।

डॉ. कुसुम वियोगी की कविता 'तुम्हारी संस्कृति' में यह विद्रोही चेतना अत्यंत तीव्र रूप में व्यक्त हुई है। कवि यहाँ शोषक वर्ग के प्रति प्रत्यक्ष अस्वीकार प्रकट करते हुए उसकी 'पुरातन व्यवस्था' की "खोखली जड़ों" को उखाड़ फेंकने का संकल्प लेता है। यह केवल आक्रोश का विस्फोट नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्संरचना का घोष है, जिसमें 'श्रमण–संस्कृति' के पुनर्लेखन की आकांक्षा निहित है। इस प्रकार यह कविता दलित अस्मिता के पुनरुत्थान और लोकतांत्रिक चेतना के विस्तार का सशक्त उदाहरण बन जाती है।[1]

इसी संदर्भ में 'फूलन' कविता में कवि दलित स्त्री को प्रतिरोध और प्रतिशोध की ज्वाला के रूप में प्रस्तुत करता है –

"फूलन
वाकई तुम, इस शताब्दी की
बहादुर महिला हो/अत्याचारी व्यभिचार के
प्रतिशोध की ज्वाला हो।"[2]

यहाँ 'फूलन' केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि समूची दलित स्त्री–शक्ति का प्रतीक बन जाती है, जो सदियों के शोषण और अत्याचार के विरुद्ध संघर्षरत है। यह चित्रण दलित कविता के लोकतांत्रिक स्वर को व्यापक बनाता है, क्योंकि इसमें स्त्री–स्वातंत्र, न्याय और प्रतिरोध की चेतना एक साथ अभिव्यक्त होती है।

दलित कविता में लोकतांत्रिक मूल्य केवल सैद्धांतिक अवधारणा नहीं, बल्कि जीवंत सामाजिक अनुभव का परिणाम हैं। यह कविता शोषितों की 'पुकार' होने के साथ–साथ सामाजिक परिवर्तन की 'घोषणा' भी है, जिसमें क्रांति के स्वर यत्र–तत्र सर्वत्र विद्यमान हैं।

दलित कविता में क्रांतिकारी चेतना केवल भावनात्मक उबाल नहीं, बल्कि ऐतिहासिक अनुभवों से उपजी वैचारिक सजगता का परिणाम है। यह सजगता शोषण के कारणों की पहचान करती है और उसके विरुद्ध संगठित प्रतिरोध की प्रेरणा देती है। ब्राह्मणवादी–सामंती संरचना के भीतर लंबे समय तक दासत्व झेलने के पश्चात अब दलित समाज अपने 'दोस्त' और 'दुश्मन' के भेद को समझने लगा है। यही बोध दलित कविता को लोकतांत्रिक और परिवर्तनकारी स्वर प्रदान करता है।

डॉ. कुसुम वियोगी की 'क्रांति का बिगुल' कविता में यह चेतना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है –

"अब तो प्रत्येक दलित
समझने लगा है,
स्पार्टकस बन
गुलामी का कारण
जिन्होंने
बजा दिया है बिगुल क्रांति का
तुम्हारी सामंती सोच के विरुद्ध।"[3]

यहाँ 'स्पार्टकस' का संकेत ऐतिहासिक दास विद्रोह की ओर है, जो दलित समाज के भीतर उभरती विद्रोही चेतना का प्रतीक बन जाता है। कवि यह बताना चाहता है कि दलित अब निष्क्रिय पीड़ित नहीं रहा, बल्कि अपने शोषण के मूल कारणों को पहचानते हुए प्रतिरोध के लिए तत्पर है। यह प्रतिरोध लोकतांत्रिक मूल्यों स्वतंत्रता, समानता और न्याय की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

इसी क्रम में 'बाप की व्यथा' कविता की पंक्तियाँ –
"अंधेरे इतिहास की स्लेट पर
लिखना जरूरी है
उजाले का इमला
सुना कमला।"[4]

यहाँ कवि अतीत के अंधकारमय इतिहास को बदलकर नए, उज्ज्वल भविष्य की रचना की आवश्यकता पर बल देता है। 'उजाले का इमला' ज्ञान, शिक्षा और चेतना का प्रतीक है, जो दलित समाज को अज्ञान और दासता से मुक्ति दिलाने का माध्यम बनता है। यह भी एक प्रकार का वैचारिक क्रांति–आह्वान है, जो लोकतांत्रिक समाज की स्थापना की दिशा में अग्रसर करता है।

'नथिया' कविता में यह क्रांतिकारी चेतना ग्रामीण जीवन के धरातल पर प्रकट होती है। 'नथिया' के चरित्र के माध्यम से कवि यह स्पष्ट करता है कि दलित क्रांति अब केवल शहरी विमर्श तक सीमित नहीं रही, बल्कि गाँव की झोपड़ियों तक पहुँच चुकी है –

"हंडिया में
साग नहीं खदकता
खिचड़ी खदकती है
विप्लव की।"[5]

यह पंक्ति अत्यंत सार्थक प्रतीक के रूप में सामने आती है, जहाँ 'खिचड़ी' सामाजिक विस्फोट और परिवर्तन की प्रक्रिया को दर्शाती है। आगे कवि यह चेतावनी भी देता है कि जब यह दबा हुआ आक्रोश फूटेगा, तो वह शोषक वर्ग की सत्ता को भी झकझोर देगा –

"जब भी कभी
उसकी फूंस की मढ़ैया जलेगी
तो
आग की लपटें
तुम्हारे महलों को छुएगी।"[6]

यहाँ स्पष्ट है कि दलित चेतना अब व्यापक सामाजिक परिवर्तन की ओर उन्मुख है, जिसमें समतावादी और लोकतांत्रिक समाज की स्थापना की आकांक्षा निहित है।

विश्लेषण –

दलित कविता में क्रांति का स्वर केवल विद्रोह नहीं, बल्कि एक संगठित सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का संकेत है। यह कविता शोषितों की चेतना को जाग्रत कर उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग बनाती है और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

दलित कविता में क्रांतिकारी चेतना का स्वर केवल वैचारिक प्रतिरोध तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह प्रत्यक्ष सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन की आकांक्षा में रूपांतरित हो जाता है। डॉ. कुसुम वियोगी की कविता

'मुट्ठियों में बंद आक्रोश' इसी प्रतिरोधी ऊर्जा का सशक्त उदाहरण है, जहाँ कवि यह स्पष्ट करता है कि जो हाथ कभी दया और करुणा की याचना करते थे, वे अब संघर्ष की सशक्त मुट्ठियों में बदल चुके हैं –

"जब कभी
अन्तर में समाया आक्रोश खौलेगा
अचानक
बहुसंख्यक फैलेगी नीले आकाश–सी
बंद मुठ्ठियां लेंगी
पंजों का आकार..."[7]

यहाँ 'मुट्ठी' का प्रतीक सामूहिक शक्ति और संगठित प्रतिरोध का द्योतक है। कवि चेतावनी देता है कि यह आक्रोश जब फूटेगा, तो शोषक वर्ग के लिए घातक सिद्ध होगा। 'पंजों का आकार' और 'जख्मों के निशान' जैसे बिंब उस ऐतिहासिक पीड़ा को भी उजागर करते हैं, जो अब प्रतिरोध की ऊर्जा में परिवर्तित हो चुकी है। यह लोकतांत्रिक चेतना का ही विस्तार है, जहाँ उत्पीड़ित वर्ग अपने अधिकारों के लिए सक्रिय संघर्ष की ओर अग्रसर होता है।

इसी क्रम में 'प्रतिशोध' कविता में कवि दलित समाज को आत्मसम्मान और संघर्ष के लिए प्रेरित करता है –

"अब हम आजादी की सांस लेना सीख रहे हैं।
युग बदला है
परिभाषाएं बदली हैं
खून बदला है, जुनून बदला है..."[8]

यहाँ 'बारूद' का रूपक अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो यह संकेत करता है कि दलित समाज अब निष्क्रिय पीड़ा का प्रतीक नहीं रहा, बल्कि वह परिवर्तन का सक्रिय माध्यम बन चुका है। यह कविता शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध को वैधता प्रदान करती है और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष का आह्वान करती है।

दलित कवि को यह भी अनुभव होता है कि सदियों की गुलामी के बावजूद दलित समाज के भीतर पूर्ण जागृति अभी शेष है। सामाजिक यथार्थ में आज भी अनेक अमानवीय प्रथाएँ विद्यमान हैं–दलित दूल्हे का घोड़ी पर चढ़कर गाँव में न निकल पाना। यह स्थिति न केवल सामाजिक असमानता का प्रतीक है, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों के अभाव को भी रेखांकित करती है।

इसी संदर्भ में 'स्नेही' की पंक्तियाँ दलित समाज की चेतना को झकझोरने का कार्य करती हैं –
"आदमी
अब जाता है
दो चार दिन के ही सफर में...
एक तुम हो
जो अब तक नहीं ऊबे–उकताए
सदियों से
गुलामी का सफर करते–करते..."[9]

यहाँ कवि व्यंग्यात्मक शैली में दलित समाज की निष्क्रियता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है और उसे आत्मचेतना के लिए प्रेरित करता है। आगे की पंक्तियों में –

"जिस सदी में अपने बाप की
जायज बात को भी
मानने से इन्कार कर देते हैं बेटे,
उस सदी में एक तुम हो
जो हर नाजायज बात को
जायज मान बैठे हो।"[10]

इन पंक्तियों में सामाजिक विसंगति का तीखा उद्घाटन है। कवि यह दिखाता है कि जहाँ आधुनिक समाज में विद्रोह और प्रश्नाकुलता सामान्य हो गई है, वहीं दलित समाज अब भी अन्याय को सहन करने की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाया है। अतः यह कविता केवल शोषण का चित्रण नहीं करती, बल्कि चेतना–जागरण का माध्यम भी बनती है।

दलित कविता में क्रांति का स्वर बहुआयामी है – यह आक्रोश, प्रतिशोध, आत्मसम्मान और जागरूकता का समन्वित रूप है। यह कविता शोषित वर्ग को न केवल उसकी पीड़ा का बोध कराती है, बल्कि उसे संघर्ष और परिवर्तन के लिए प्रेरित भी करती है। इस प्रकार दलित कविता लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना में एक सक्रिय और प्रभावी भूमिका निभाती है।

दलित कविता की क्रांतिकारी चेतना केवल भावनात्मक विद्रोह नहीं, बल्कि सामाजिक यथास्थिति के विरुद्ध संगठित वैचारिक संघर्ष का उद्घोष है। यह कविता शोषित वर्ग को उसके ऐतिहासिक अनुभवों से जोड़ते हुए उसे सक्रिय प्रतिरोध के लिए प्रेरित करती है। इसी संदर्भ में 'स्नेही' की पंक्तियाँ दलित चेतना को जागृत करने का सशक्त प्रयास करती हैं –

"उन्हें भी आवाज दो
जो सतयुग के घने जंगलों में
तीतर–वटेर लड़ा रहे हैं
ये तीतर–बटेर लड़ाने का नहीं
लड़ने का वक्त है।"[11]

यहाँ कवि अंधविश्वासों और पाखंडों में उलझे समाज को झकझोरते हुए उसे वास्तविक संघर्ष की ओर उन्मुख करता है। 'शम्बूक' और 'एकलव्य' जैसे प्रतीकों का प्रयोग दलित इतिहास की गौरवशाली परंपरा को पुनर्स्मरण कराता है, जिससे आत्मसम्मान और प्रतिरोध की भावना को बल मिलता है। यह स्पष्ट करता है कि दलित कविता का लोकतांत्रिक मूल्य केवल समानता की आकांक्षा तक सीमित नहीं, बल्कि अन्याय के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष की चेतना से भी जुड़ा है।

दलित कविता मानवीय और संवैधानिक मूल्यों–समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है, किन्तु भारतीय समाज की जातीय संरचना के कारण यह लक्ष्य अभी पूर्णतः साकार नहीं हो पाया है। इस यथार्थ को एक कवि अत्यंत मार्मिक रूप में व्यक्त करता है –

"निम्न होना बुरा नहीं
जितना कि अछूत होना है"[12]

यह पंक्ति सामाजिक विषमता की गहराई को उद्घाटित करती है, जहाँ 'निम्नता' सामाजिक गतिशीलता की संभावना रखती है, जबकि 'अछूतपन' पूर्ण बहिष्कार और अमानवीयता का प्रतीक बन जाता है।

दलित साहित्य का मूल स्वर विद्रोह है, जो वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था और धार्मिक असमानताओं के विरुद्ध एक निरंतर संघर्ष के रूप में सामने आता है। इस वैचारिक परंपरा की ऐतिहासिक जड़ें महाराष्ट्र में स्थापित सत्यशोधक आंदोलन में मिलती हैं, जिसकी नींव महात्मा ज्योतिराव फुले ने रखी। फुले ने शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हुए कहा –

"शिक्षा के बिना बुद्धि गई,
बुद्धि के बिना नैतिकता की अवनति हुई"[13]

यह कथन स्पष्ट करता है कि अज्ञानता ही शोषण का मूल कारण है। शिक्षा के अभाव में दलित समाज न केवल आर्थिक रूप से पिछड़ा रहा, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी उसे हीन स्थिति में बनाए रखा गया। विशेषतः दलित स्त्रियाँ अशिक्षा और गरीबी के कारण दोहरे शोषण का शिकार बनीं।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर की वैचारिक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कंवल भारती ने दलित अनुभवों को काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है। उनकी पंक्तियाँ सामाजिक अन्याय के मूल प्रश्नों को सामने लाती हैं –

"एक दलित पर जुल्म क्यों होता है?
यदि वह साफ कपड़े पहनता है
अछूत को बाध्य क्यों किया जाता है
मरे जानवर उठाने"[14]

इन प्रश्नों के माध्यम से कवि उस सामाजिक मानसिकता को उजागर करता है, जो दलितों के मानवीय अधिकारों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। यह केवल शोषण का चित्रण नहीं, बल्कि उसके विरुद्ध वैचारिक प्रतिरोध भी है।

दलित कविता का लोकतांत्रिक मूल्य सामाजिक न्याय की स्थापना से गहराई से जुड़ा हुआ है। यह कविता शोषितों की आवाज बनकर न केवल उनके दुःख–दर्द को अभिव्यक्त करती है, बल्कि उन्हें संगठित होकर संघर्ष करने के लिए प्रेरित भी करती है। इस प्रकार दलित कविता एक समतामूलक, न्यायपूर्ण और मानवीय समाज के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

दलित कवियों ने अपनी कविताओं में यह स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है कि दलित समाज आज भी छुआछूत, जाति–पाँति और सामाजिक भेदभाव के कारण निरंतर अपमान और शोषण का शिकार हो रहा है। इस यथार्थ को अभिव्यक्त करते हुए दलित कविता ने हिन्दी साहित्य में जीवन–संबंधी उस रिक्तता को भरने का प्रयास किया है, जहाँ पहले दलित अनुभव अनुपस्थित या हाशिये पर थे। कंवल भारती का यह कथन इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है –

"मैं नहीं जानता कविता क्या कर सकती है?
कविता कर सकती है विद्रोह,
ला सकती है समाज में समानता,
अन्याय–भेदभाव का अंत कर।"[15]

यहाँ कविता को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति न मानकर सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम माना गया है। दलित साहित्य आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक और मानसिक शोषण के विरुद्ध एक व्यापक वैचारिक क्रांति का प्रतिनिधित्व करता है, जो पारंपरिक मार्क्सवादी या साम्यवादी क्रांतियों से भिन्न, भारतीय सामाजिक संरचना विशेषतः जाति व्यवस्था को केंद्र में रखता है।

ज्योतिराव फुले की कृति गुलामगिरी ने दलित चेतना को जागृत करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। इस ग्रंथ ने सदियों की दासता से मुक्ति की आकांक्षा को वैचारिक आधार प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप दलित समाज में प्रतिरोध की चेतना एक 'संतृप्त ज्वालामुखी' की तरह फूट पड़ी।[16]

हिन्दी दलित कविता की आरंभिक अभिव्यक्तियों में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' (1914, सरस्वती पत्रिका) अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें दलित जीवन की पीड़ा, आक्रोश और विरोध पहली बार इतनी स्पष्टता से सामने आता है –

"हमनी के दुख भगवनओं न देख ताजे,
हमनी के कबले कलसेवा उठाइबि"[17]

कवि यहाँ ईश्वर की निष्पक्षता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है और सामाजिक अन्याय को धार्मिक मान्यताओं से जोड़कर उसकी आलोचना करता है। प्रह्लाद और गजराज के प्रसंगों के माध्यम से वह यह दिखाता है कि जहाँ पौराणिक पात्रों की रक्षा होती है, वहीं दलितों की पीड़ा अनदेखी रह जाती है।

हीरा डोम की कविता में जाति व्यवस्था के दोहरे मानदंडों का तीखा उद्घाटन मिलता है –
"ठकुरे के सुख सेत घर में सुतल बनीं,
हमनी के जोति–जोति खेतिया कमाईबि"[18]

यहाँ श्रम और सम्मान के बीच के असमान संबंध को उजागर किया गया है, जहाँ श्रम करने वाला दलित अपमानित है और शोषण करने वाला सवर्ण प्रतिष्ठित। यह स्थिति मानवता के मूल्यों पर गहरा प्रश्न खड़ा करती है।

दलित संवेदना का सबसे तीव्र रूप विद्रोह में प्रकट होता है। जब दलित कवि अत्याचार, बहिष्कार, हिंसा और स्त्री उत्पीड़न की घटनाओं को देखता है, तो उसके भीतर आक्रोश का ज्वार उठता है। जे.वी. पवार की पंक्तियाँ इस आंतरिक विस्फोट को अभिव्यक्त करती हैं –

"नहीं जानता क्यों उस दिन से मेरी मुट्ठियाँ तन गईं
तुम लोगों की कब्रें बाँधने बाहर निकला हूँ।"[19]

यह विद्रोह केवल प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि अस्तित्व की रक्षा और आत्मसम्मान की स्थापना का संघर्ष है। इसी प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में यह आक्रोश और भी तीव्र रूप में दिखाई देता है –

"मेरे रंध्रों में दहकने लगते हैं
यातना के कई हजार वर्ष एक साथ"[20]

यहाँ 'जाति का फंदा' एक ऐसे सामाजिक बंधन का प्रतीक है, जो न केवल दलितों को, बल्कि समूचे समाज को अमानवीयता के चक्र में बाँधता है। वाल्मीकि के अनुसार कविता जीवन–संघर्ष की ऊर्जा है, जो मनुष्य को अन्याय के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति देती है।

दलित साहित्य में अब केवल शिकायत का स्वर नहीं, बल्कि सवर्ण संस्कृति, उसकी मान्यताओं और मूल्यों का स्पष्ट अस्वीकार भी दिखाई देता है। यह साहित्य अपने इतिहास, अपनी अस्मिता और अपने स्थान की खोज का प्रयास कर रहा है। इसी क्रम में डॉ. धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, श्योराज सिंह 'बेचैन' आदि साहित्यकारों ने दलित कविता को नई दिशा प्रदान की। डॉ. धर्मवीर का यह मत कि "गैर–दलित द्वारा रचित साहित्य को दलित साहित्य नहीं माना जा सकता" इस विमर्श की वैचारिक सीमा और स्वायत्तता को स्पष्ट करता है।[21]

दलित कविता अनुभव, अनुभूति और अभिव्यक्ति–तीनों स्तरों पर एक 'विस्फोट' के रूप में सामने आती है। यह केवल साहित्यिक धारा नहीं, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलन है, जो आत्मविश्लेषण, अस्मिता–बोध, मानवीय मूल्यों और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की दिशा में सक्रिय है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में यह आंदोलन विशेष रूप से सशक्त हुआ और आज भी निरंतर विकसित हो रहा है।

इस प्रकार दलित साहित्य में व्यक्त "शोषितों की पुकार" केवल एक भावनात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह एक गहन सामाजिक, ऐतिहासिक एवं वैचारिक चेतना का सशक्त स्वर है, जो भारतीय समाज की असमान एवं शोषणकारी संरचनाओं के विरुद्ध प्रतिरोध के रूप में विकसित हुआ है। यह पुकार उन वर्गों की सामूहिक आवाज है, जिन्हें लंबे समय तक जाति–आधारित पदानुक्रम, अस्पृश्यता, आर्थिक विषमता एवं सामाजिक

बहिष्कार के कारण हाशिए पर रखा गया। इस साहित्यिक स्वर की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी यथार्थपरकता है। दलित साहित्य में शोषितों की पीड़ा, अपमान, संघर्ष एवं अस्मिता की खोज को अनुभवजन्य आधार पर अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह साहित्य केवल दुःख का चित्रण नहीं करता, बल्कि उस दुःख के कारणों की पड़ताल करते हुए सामाजिक परिवर्तन की दिशा में भी संकेत करता है। इस प्रकार "शोषितों की पुकार" एक निष्क्रिय करुणा नहीं, बल्कि सक्रिय प्रतिरोध और चेतना का स्वर बनकर उभरती है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों से प्रेरित यह साहित्यिक चेतना सामाजिक न्याय, समानता एवं मानवाधिकारों की स्थापना को केंद्र में रखती है। इसने साहित्य को केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति के दायरे से बाहर निकालकर उसे सामाजिक दायित्व से जोड़ दिया है। परिणामस्वरूप दलित साहित्य ने न केवल शोषित वर्ग की आवाज को मुखर किया, बल्कि समाज की संरचनात्मक विसंगतियों पर भी गंभीर प्रश्नचिन्ह लगाए हैं। "शोषितों की पुकार" का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष इसकी अस्मिता–केन्द्रित दृष्टि है। यह पुकार आत्मसम्मान, आत्मपहचान एवं सामाजिक गरिमा की पुनर्स्थापना की मांग करती है। इसमें "मैं" केवल व्यक्तिगत अस्तित्व का प्रतीक नहीं है, बल्कि वह सम्पूर्ण शोषित समुदाय की सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार दलित साहित्य में शोषितों की पुकार एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में उभरी हुई वह साहित्यिक एवं सामाजिक अभिव्यक्ति है, जो अन्याय, शोषण एवं भेदभाव के विरुद्ध संघर्षरत है। यह पुकार भारतीय समाज को एक समतामूलक, न्यायपूर्ण एवं मानवीय व्यवस्था की ओर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है और साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के सशक्त माध्यम के रूप में स्थापित करती है।

निष्कर्षः

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य हिन्दी साहित्य की एक अत्यंत सशक्त, यथार्थपरक एवं परिवर्तनकारी धारा के रूप में विकसित हुआ है, जिसने साहित्य को केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति के दायरे से बाहर निकालकर उसे सामाजिक यथार्थ, अनुभवजन्य पीड़ा एवं प्रतिरोध की चेतना से समृद्ध किया है। यह साहित्य भारतीय समाज की उस ऐतिहासिक असमानता और जातिगत संरचना का परिणाम है, जिसने लंबे समय तक एक बड़े वर्ग को सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखा। दलित साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने हाशिए पर स्थित समुदायों के अनुभवों को साहित्यिक केंद्र में स्थापित किया है। यह साहित्य उन आवाजों का प्रतिनिधित्व करता है, जिन्हें परंपरागत साहित्यिक विमर्श में या तो उपेक्षित किया गया या सीमित रूप में प्रस्तुत किया गया। दलित साहित्य ने इन अनुभवों को केवल अभिव्यक्त ही नहीं किया, बल्कि उन्हें सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक वैचारिक शक्ति के रूप में भी रूपांतरित किया है। इस साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि डॉ. भीमराव अंबेडकर के चिंतन से गहराई से जुड़ी हुई है, जिसमें सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व जैसे मूल्यों को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। इस विचारधारा ने दलित साहित्य को एक वैचारिक आधार प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप यह साहित्य केवल करुणा या संवेदना तक सीमित न रहकर प्रतिरोध, संघर्ष एवं आत्मसम्मान की अभिव्यक्ति बन गया। भाषिक एवं शिल्पगत दृष्टि से भी दलित साहित्य विशिष्टता रखता है। इसमें सरल, सीधी एवं यथार्थपरक भाषा का प्रयोग किया गया है, जो जीवन के कठोर अनुभवों को बिना किसी अलंकरण के प्रस्तुत करती है। यह भाषा सामाजिक यथार्थ की तीव्रता को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है और पाठक को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार दलित साहित्य केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलन है, जो भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं, भेदभाव एवं शोषण के विरुद्ध संघर्षरत है। यह साहित्य एक समतामूलक, न्यायपूर्ण एवं मानवीय समाज की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है और साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के सशक्त माध्यम के रूप में स्थापित करता है।

संदर्भ –

[1] वियोगी, कुसुम – तुम्हारी संस्कृति, नई दिल्ली : समता प्रकाशन, 2008, पृष्ठ 45
[2] वियोगी, कुसुम – फूलन, भोपाल : जनवाणी प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 62
[3] वियोगी, कुसुम – क्रांति का बिगुल, नई दिल्ली : समता प्रकाशन, 2012, पृष्ठ 88

[4] वियोगी, कुसुम – बाप की व्यथा, लखनऊ : नवचेतना प्रकाशन, 2011, पृष्ठ 53
[5] वियोगी, कुसुम – नथिया, वाराणसी : लोकभारती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 70
[6] वियोगी, कुसुम – नथिया, वाराणसी : लोकभारती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 71
[7] वियोगी, कुसुम – मुट्ठियों में बंद आक्रोश, नई दिल्ली : समता प्रकाशन, 2014, पृष्ठ 96
[8] वियोगी, कुसुम – प्रतिशोध, भोपाल : जनवाणी प्रकाशन, 2012, पृष्ठ 74
[9] स्नेही – दलित चेतना की कविताएँ, लखनऊ : नवचेतना प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 58
[10] स्नेही – दलित चेतना की कविताएँ, लखनऊ : नवचेतना प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 58
[11] स्नेही – दलित चेतना की कविताएँ, लखनऊ : नवचेतना प्रकाशन, 2011, पृष्ठ 72
[12] अज्ञात – समकालीन दलित कविता संकलन, दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन, 2009, पृष्ठ 38
[13] फुले, ज्योतिराव – गुलामगिरी, पुणे : सत्यशोधक प्रकाशन, 1873/पुनर्मुद्रण 2002, पृष्ठ 15
[14] भारती, कंवल – दलित विमर्श और साहित्य, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 112
[15] भारती, कंवल – दलित विमर्श और साहित्य, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 118
[16] फुले, ज्योतिराव – गुलामगिरी, पुणे : सत्यशोधक प्रकाशन, 1873/पुनर्मुद्रण 2002, पृष्ठ 21
[17] डोम, हीरा – "अछूत की शिकायत", सरस्वती, इलाहाबाद : 1914, पृष्ठ 45
[18] डोम, हीरा – "अछूत की शिकायत", सरस्वती, इलाहाबाद : 1914, पृष्ठ 47
[19] पवार, जे.वी. – दलित पैंथर की कविताएँ, मुंबई : लोकवाङ्मय प्रकाशन, 1978, पृष्ठ 63
[20] वाल्मीकि, ओमप्रकाश – सदियों का संताप, नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1997, पृष्ठ 52
[21] धर्मवीर – डॉ. दलित साहित्य का स्वरूप, दिल्ली : साहित्य भवन, 2003, पृष्ठ 89